स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की विशेषता

श्री महावीरस्वामी अन्तिम तीर्थंकर के पश्चात और श्रुतकेवली की परम्परा समाप्त होने के बाद जब स्वामिकार्तिकेय नाम के महान् आचार्य हुए हैं। इनका स्वामिकुमार यह नाम भी प्रसिद्ध है। इन्हों ने आजन्म ब्रह्मचर्य धारण किया था। इन्हों ने—'**अनुप्रेक्षा**' नामक महान् ग्रन्थ रचा है।

कुन्दकुन्दादिक अनेक आचार्यों ने अनुप्रेक्षा विषय पर अनेक रचनाएँ कि है परन्तु इनका यह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ उपलब्ध सब अनुप्रेक्षा ग्रन्थों की अपेक्षा से बडा है।

महावीर जिनेश्वर के तीर्थ प्रवर्तन के काल में दारुण उपसर्ग सहकर ये विजयादिक पंचानुत्तर में से किसी एक अनुत्तर में इनकी उत्पत्ति हुई है। ऐसा उल्लेख राजवार्तिकादि ग्रन्थों में हैं।

ऋषिदास धन्य सु नक्षत्र–कार्तिकनन्दन शालिभद्र,
अभय, वारिषेण, चिलात पुत्रा इत्येते दश वर्धमान तीर्थे ॥
इत्येते दारुणानुपसर्गोन्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषु उत्पन्ना।
इत्येते मनुत्तरोपपादिक दश ॥ (राजवार्तिक, अ. १ सू, पृ. ५१)

भगवती आराधना में भी इनका उल्लेख आया है यथा—

रोहे उ यम्मि सत्तीए ह ओ कों चेण अग्गिदई दो वि।
तं वेयण मधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहं ॥१५४९॥
अग्गिदई दोवि अग्नि राजनाम्नो राज्ञः पुत्रः कार्तिकेय संज्ञः।

रोहतक नाम के नगर में क्राच नामक राजा ने शक्तिशास्त्र का प्रहार कर कार्तिकेय मुनिराज को विद्ध किया। परन्तु उन्होंने वेदनाओं को सह लिया तथा साम्य परिणाम तत्पर होकर स्वर्ग में देव हुए। ये कार्तिकेय मुनिराज अग्निराजा के पुत्र थे, इनकी माता का नाम कृत्तिका था अतः इनको कार्तिक तथा कार्तिकेय और कुमार ऐसा नाम था।

श्रीशुभचन्द्रभट्टारक जो कि इस ग्रन्थ के टीकाकार हैं उन्हों ने इनके विषय में ऐसा उल्लेख किया है।

"स्वामि कार्तिकेय मुनिः क्रौञ्चराजकृतोपसर्ग सोढ्वासाम्यपरिणामेण समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः" इस ग्रन्थकार के विषय में इतना परिचय मिलता है जो कि पर्याप्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

अनुप्रेक्षा शब्द की व्याख्या इस प्रकार है–"अनु-पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणं अनित्यादि स्वरूपाणाम् इति अनुप्रेक्षा निज निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः ॥"

शरीर, धन, वैभव आदि पदार्थों के अनित्यादि स्वभावों का बार बार चिन्तन, मनन, स्मरण करना यह अनुप्रेक्षा शब्द का अर्थ है। अर्थात धनादि पदार्थ अनित्य है इनसे जीव का हित नहीं होता है इत्यादि रूपसे जो चिन्तन करना उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं भावना ऐसा भी इनका दूसरा नाम है। इनके बारह भेद है—

१. अध्रुव, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ दुर्लभ और १२ धर्म।

१. अध्रुवानुप्रेक्षा

जो–जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह चिरस्थायी नहीं है। जन्म मरण के साथ अविनाभावी है। पदार्थों में सतत परिणति होती ही है। परिणतिरहित पदार्थ दुनिया में कोई भी नहीं है। यदि जीव को तारुण्य प्राप्त हुआ तो भी वह अक्षय नहीं है। कालान्तर से वह जीव वृद्ध होकर कालवश होता है। धनधान्यादि लक्ष्मी मेघच्छाया के समान शीघ्र विनाश को प्राप्त होती है। पुण्योदय से ऐश्वर्य लाभ होता है परन्तु वह समाप्त होनेपर ऐश्वर्य नष्ट होता है। अनेक राज्यैश्वर्य नष्ट हुए हैं। सत्पुरुषों के मन में ऐश्वर्य नित्य नहीं रहेगा ऐसा विचार आता है तथा वे उसका उपयोग धर्म कार्य में करते हैं अर्थात वे जिनमंदिर, जिनप्रतिष्ठा, जिनबिम्ब तथा सुतीर्थ यात्रा में उसका व्यय करते हैं जो साधार्मिक बांधव हैं उनकी आपत्ति को दूर करके उनको प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए धन देकर धर्म में प्रवृत्त करते हैं, उंनकी लक्ष्मी सफल होती है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती आदिकों की रत्नत्रय वृद्धि करने के लिए आहार औषधादि दान देने से आत्महित होता है तथा संपत्ति की प्राप्ति होना सफल होता है। इन्द्रियों के विषय विनश्वर है ऐसा निश्चय कर उनके ऊपर मोहित जो नहीं होता है वह सज्जन अपना कल्याण करता है। बालक जैसा स्तनपान करते समय अपना दूसरा हाथ माता के दूसरे स्तनपर रखता है वैसे मनुष्य जो उसको वैभव प्राप्त हुआ है उसका उपभोग लेते हुए भावी आत्महित के लिये धर्म कार्य में भी उसका अवश्य व्यय करे। धन में लुब्ध न होते हुए निर्मोह होकर उसका व्यय करने से भवान्तर में भी वह लक्ष्मी साथ आती है।

२. अशरणानुप्रेक्षा

मनुष्य शब्द की सिद्धि मनु धातु से हुई है। विचार करना विवेकयुक्त प्रवृत्ति करना यह मनु धातु का अर्थ है। संसार, शरीर, और भागों से विरत होकर सज्जन ऐसा विचार करते हैं "इस जगत् में इन्द्रादिक देव सामर्थ्यशाली होकर भी मृत्यु से अपना रक्षण करने में असमर्थ हैं। आयुष्य का क्षय होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी मरते हैं। जगत् में मनुष्य का रक्षण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से होता है। इसलिये परम श्रद्धा से रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये। जब जीव में क्षमा, विनय, निष्कपटता आदि धर्म उत्पन्न होते हैं तब वह जीव अपना रक्षण करने में समर्थ होता है। तीव्र क्रोधादि कषायों से भरा हुआ जीव स्वयं अपना घात करता है।

दंसणणाणचरित्तं सरणं सेवेहि परमसद्धाए।
अण्णं किं पि य सरणं संसारे संसरंताणं॥
अप्पाणं पि य सरणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण॥

इन गाथाओं का अभिप्राय ऊपर आया है।

३. संसारानुप्रेक्षा

यह जीव एक शरीर को ग्रहण करके उसको छोड देता है तदनंतर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है। उसे भी छोडकर तीसरा शरीर धारण करता है। इस प्रकार इस जीव ने मिथ्यात्व कषाय वश होकर अनन्त देह धारण कर चतुर्गती में भ्रमण किया है। इसको संसार कहते हैं। इसी अभिप्राय को आचार्य दो गाथाओं में कहते हैं—

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचदि बहुवारं॥
एवं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स॥

पाप के उदय से जीव नरक में जन्म लेता है। वहां अनेक प्रकार के दुःख सहते हैं। नारकी जीवों में सतत क्रोध का उदय होता है जिससे वे अन्योन्य को आमरण व्यथित करते हैं। नरक से निकलकर जीव तिर्यंच पशु होता है। उस गति में भी उसको दुःख भोगने पडते हैं। क्रूर मनुष्य पशुओं को मारते हैं। हरिणादिक दीन पशुओं में जन्म होने पर सिंह व्याघ्रादिकों के वे भक्ष बनते हैं।

मनुष्य गति में जन्म लेने पर भी मातापिता के विरह से उनको कष्ट भोगना पडता है। याचना करना, उच्छिष्ट भक्षंण करना, आदिक दुःखसमूह पापोदय से प्राप्त होते हैं। कोई मनुष्य—सम्यग्दर्शन, तथा व्रतों को धारण करता है, उत्तम क्षमादि धर्म धारण करता है, कुछ पापकर्म होने पर उसको कहकर अपनी निंदा करता है, गुरु के आगे अपने दोषों को कहता है, ऐसे सदाचार से उसको पुण्यबन्ध होता है तथा उसे सुख की प्राप्ति होती है तो भी उसको कभी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग हो जाता है। इस विषय में ग्रन्थकार कहते हैं—

पुण्ण जुदस्स वि दीसइ इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुयभायेण॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्यवंत को भी इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग होते हैं ऐसा देखा जाता है। भरतचक्रवर्ती षट्खंड स्वामी होने से सगर्व हुआ था। परन्तु उसके छोटे भाईने उसे पराजित किया था। अर्थात मनुष्य गति में भी अनेक दुःख भोगने पडते हैं।

देवगति में भी दुःख प्राप्त होता है। महर्द्धिक देवों का ऐश्वर्य देख कर हीन देवों को मानसिक दुःख उत्पन्न होता है। ऐश्वर्य युक्त देवों को भी देवी के मरने से दुःख होता है। इस प्रकार संसार का स्वरूप जानकर सम्यग्दर्शन, व्रत, समिति, ध्यान आदि को में अपने आत्मा को तत्पर करना चाहिये तथा निजस्वरूप के चिन्तन में तत्पर होकर मोहका सर्वथा त्याग करने से जीवको संसार नष्ट होने से सिद्ध पदकी प्राप्ति होगी। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने इस गाथा में व्यक्त किया है—

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ॥

४. एकत्वानुप्रेक्षा

इस भावना को एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं। जिनका मन रागद्वेष मोहादिकों से रहित हुआ है तथा जिनके मन में वैराग्य वृद्धि हुई है ऐसे मुनिराज तथा ब्रम्हचारी आदि गृहत्यागी लोक इस अनुप्रेक्षा को अपनाते हैं।

एकत्व चिन्तन से आत्मस्वरूप का अनुभव उत्तरोत्तर जीवको अधिक मात्रा में आता है। जो कुछ भला बुरा कार्य यह जीव करता है उसका अनुभव सुख दुःखरूप उसे ही मिलता है। जीव अकेला ही जन्म लेकर अकेला ही मृत्युवश होता है। रोग शोकादिक अकेला ही भोगता है। जीव ने यदि पुण्य किया तो उसका फल सुख वह अकेला ही भोगता है। तथा यदि वह पाप करेगा तो नरक तिर्यगादि गति में वह दुःख को अकेला ही भोगेगा।

उत्तम क्षमादि धर्म ही अपना कल्याण करनेवाले स्वजन हैं वह धर्म ही देव लोक को प्राप्त कर देगा। यह जीव अपने शरीर से भी अपने को भिन्न समजता है तथा अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर सर्व मोह का त्यागी होता है तो कर्मक्षय करके वह मुक्ति श्री को वरता है।

५. अन्यत्वभावना

कर्म के उदय से जो देह मुझे प्राप्त हुआ है वह मुझसे भिन्न है। माता, पिता, पत्नी, पुत्र ये मुझसे भिन्न हैं। हाथी, घोडा, धन, रथ, घर ये पदार्थ चैतन्यस्वरूपी मुझसे भिन्न ही हैं। तो भी मोह से मैं उन पदार्थों में अनुरक्त हो रहा हूं यह खेद की बात है। मैं चेतन हूं और यह मेरा देह अचेतन है। चैतन्य मेरा लक्षण है, देह उससे भिन्न है। यह जानकर मैं अपने स्वरूप में यदि रहूंगा तो मुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म, शरीर और मोह से जिनराज यद्यपि भिन्न हैं तथापि वे अपने केवल ज्ञान से भिन्न नहीं है वे अभिन्न हैं।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा

यह छट्ठी भावना है। यह देह मनुज शरीर अपवित्र पदार्थों से उत्पन्न हुई है। यह असंख्य कृमियों से भरी है। यह दुर्गन्ध तथा मलमूत्र का घर है। ऐसा हे आत्मन् तूं इसका स्वरूप जानकर इससे विरक्त होकर आत्मस्वरूप का चिन्तन कर।

जो पुत्र, स्त्री आदिकों के देह से तथा स्वदेह से भी विरक्त है जो अपने शुद्ध चिद्रूप में लीन है उसकी देहविषयक अशुचित्व भावना सच्ची है ऐसा समझना योग्य है। उपर्युक्त अभिप्राय की गाथा यह है—

जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुईत्ते भावणा तस्स ॥ ८७॥

७. आस्रवानुप्रेक्षा

संसारी जीव में मोह के उदय से नानाविध सुखदुःख आदिक देनेवाले स्वभावों को धारण करनेवाले कर्मों का आगमन मन, वचन और शरीर के आश्रय से होता है। उसे आस्रव कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है—जीव के प्रदेशों में जो कम्पन होता है उसे योग कहते हैं। इस योग के मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग–शरीरयोग ऐसे तीन भेद हैं। यह चंचलता मोह कर्म के उदय से होती है तथा मोह के अभाव में भी होती है। इन योगों को ही आस्रव कहते हैं।

शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन तथा शरीर से युक्त जो जीव की शक्ति आत्मप्रदेशों में कर्मों का आगमन होने के लिए कारण होती है उसे योग कहते हैं। ये योग आस्रव के कारण है। कारण में कार्यों का उपचार करने से कारण रूप योग को भी आस्रव कहा है। संसारी जीव के सर्व आत्म प्रदेशों में रहनेवाली तथा कर्मों को ग्रहण करनेवाली जो शक्ति उसे भावयोग कहते हैं। इस भावयोग से जीव के प्रदेशों में मनोवर्गणा, वचनवर्गणा तथा कायवर्गणाओं के निमित्त से चंचलता उत्पन्न होती है उन्हें मनोयोग, वचनयोग और काययोग कहते हैं ये योग तरह वे सयोगकेवली गुणस्थान तक रहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान से सूक्ष्म लोभ नामक दसवे गुणस्थान तक मोह कर्म के साथ योग रहते हैं इस लिये इन गुणस्थान से तेरहवे गुणस्थान तक भी कर्म का आगमन होता है परन्तु इस से कर्मबंध नहीं होता है। आये हुए कर्म एक समय तक रहकर निकल जाते हैं यहां जो कर्म का आगमन होता है उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। इन तीन गुणस्थानों में बिना फल दिये ही निकल जाता है। इन तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय या सांपरायिक आस्रव के कारण नहीं रहते हैं। चौदहवे अयोग केवली गुणस्थान में योग भी नहीं रहते हैं। अतः यहां आस्रव तथा बंध ही होने से अयोग केवली जीव मुक्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव में कर्म के उदय से पुण्य तथा पाप कर्म आता है। मंद कषाय से जीव के परिणाम स्वच्छ होते हैं तथा तीव्र कषायों से अस्वच्छ होते हैं। मित्र हो अथवा शत्रु हो सब जीवों के साथ प्रेम की प्रवृत्ति जो रखता है प्रेम युक्त भाषण जो करता है। गुणग्राहकता जिसमें रहती है वह जीव मंद-कषायी है। जिसमें द्वेषादिक है गुण ग्राहकता नहीं है, मिथ्यात्वादिक का त्याग नहीं करते हैं वे तीव्र कषायी हैं। उनमें सतत कर्मास्रव होते हैं।

जो त्याज्य वस्तुओं का विचारपूर्वक त्याग करता है तथा सुविचार के अनुसार जो कार्य करता है, क्षमादिकों को धारण करके समताभाव में जो लीन होते हैं, जो राग द्वेष के त्यागी हैं वे आस्रव भावना के विचार होने से उन्हें सुमति या कीर्ति की प्राप्ति होती है।

८. संवरानुप्रेक्षा

जीव के प्रदेशों में अर्थात आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमादादिक कारणों से कर्म आते थे परन्तु अब आत्मा सम्यग्दर्शन, अणुव्रत, महाव्रतादिकों को धारण करने लगा इस से मिथ्यात्वादिक आस्रवों का अभाव हुआ अर्थात मिथ्यात्वादिकों के प्रतिस्पर्द्धि सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा महाव्रतादिकरूप संवर आत्मा में प्रकट हुआ। कषाय क्रोध, मान माया लोभों को जीतने से आत्मा में उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौचादिक दशधर्मरूप संवर प्रकट हुआ है। योग का निरोध करने से मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति, काय-गुप्तिरूप संवर हुआ। अर्थात गुप्ति, समिति, दशधर्म, परिषह विजय-भूख तृषादिकों की बाधा सहना तथा सामायिक, च्छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि आदिक चारित्र जो कि उत्कृष्ट संवर कारण उत्पन्न हुए हैं। इन संवर कारणों से अपूर्व शांति उत्पन्न हुई तथा कर्म आने के मनोवचनकायादि प्रवृत्तिरूप किवाडे बंद हो जाने से कर्मों का आगमन बंद हुआ तथा रागद्वेषादिकों का अभाव होने से सत्चित्आनंदरूप आत्मा हुअी, अब वह पंचेन्द्रिय विषयरूप जालमेस छूट गई। अब उसका दीर्घ काल तक संसार में घुमना बंद हुआ यही अभिप्राय आगे की गाथा में व्यक्त हुआ है—

जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरई।
मणहरविसयेहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥१०१॥

९. निर्जरानुप्रेक्षा

बद्ध कर्म उदय में आकर अपना फल देकर आत्मा से अलग हो रहा है और आत्मा गर्व रहित, निदान रहित हुआ है। तपस्वी हुआ है। हर्ष विषादादि से अत्यंत दूर हुआ है। अर्थात् बंधा हुआ कर्म उदय में आकर अपना सुख दुःखादिक दे रहा है तो भी आत्मा अपनी शांत वृत्तीसे तिलमात्र ही सरकता नहीं है और कर्म प्रतिक्षण में झड रहा है।

नया कर्म आत्मा में आना बिलकुल बंद हुआ है ऐसी अवस्था में जो कर्म निर्जरा होती है उसे अविप्तका निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा आत्मा के रत्नत्रय गुणोंकी उत्तरोत्तर प्रकर्षता होने पर होती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यह निर्जरा मोक्षकी कारण होती है। ऐसी निर्जरा चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होती है। और अयोगि जिनकी अवस्था प्राप्त होने तक होती है। यह निर्जरा अन्तिम अवस्था को प्राप्त करती हुई जीव को मोक्ष प्रदान करती है। जिससे आत्मा पूर्ण शुद्ध बनकर अक्षय निर्मलता धारण करती है। जो चतुर्गति में घुमने-वाले प्राणियों को होती है वह निर्जरा सविपाक निर्जरा है, वह बंध सहित है।

जिन साधुओं ने रागद्वेषों का त्याग किया है, जिनको समस्त सुख का सतत स्वाद आरहा है, जिनको आत्म चिन्तन से आनंद प्राप्त हो रहा है ऐसे साधुओं की निर्जरा परम श्रेष्ठ है।

जो समसुक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा॥

१०. लोकानुप्रेक्षा

इस अनुप्रेक्षा का चिन्तन मुनिराज किस प्रकार से करते हैं उसका निरूपण संक्षेप से ऐसा है—जगत् को लोक कहते हैं। इसमें एक चेतन तत्त्व तथा दूसरा अचेतन तत्त्व है। जीव को चेतन तत्त्व अर्थात अन्तस्तत्त्व तथा अचेतन तत्त्व को बहिस्तत्त्व जडतत्त्व कहते हैं। जडतत्त्व के धर्म, अधर्म, आकाश, काल, तथा पुद्गल ऐसे पांच भेद हैं। जीवतत्त्व के साथ तत्त्व के छह भेद होते हैं। आकाश नामक तत्त्व महान तथा अनन्तानन्त प्रदेशयुक्त है। इससे बडा कोई भी नहीं है। इस तत्त्व के बहु सध्यमें—जीवों के साथ धर्माधर्मादि पांच तत्त्व रहते हैं। जितने आकाश में ये पांच तत्त्व रहते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। तथा वह असंख्यात प्रदेशवाला है। आकाश के साथ ये छह द्रव्य परिणिमनशील हैं। अतः इनको सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य कहना योग्य नहीं हैं। द्रव्यों की अपेक्षा से ये सर्व ही पदार्थ अपने स्वरूप को कभी भी नहीं छोडते हैं अतः ये नित्य हैं और अपने चेतन तथा अचेतन स्वभाव को न छोडते हुए भी नरनारकादि अवस्थाओं को धारण करते हैं अतः ये पदार्थ कथंचित अनित्य हैं। इनसे उत्पत्ति तथा विनाश होते हुए भी अपने स्वभावों को ये तत्त्व नहीं छोडते हैं। अपनी अपनी पर्यायों से परिणत होते हैं।

यहां जीव तत्त्व के विषय में विचार करना है। लोक धातुका अर्थ देखना अवलोकन करना है। अर्थात जिसमें जीवादिक सर्व पदार्थ दिखते हैं उसे लोक कहते हैं। इस लोक के अग्रभाग में ज्ञानावरणादि संपूर्ण कर्मों से रहित अनन्त ज्ञानादि गुण पूर्ण शुद्ध जीव विराजमान हुए हैं तथा वे अनन्तानन्त हैं।

जीवों के संसारी तथा मुक्त ऐसे दो भेद हैं। कर्मोंका नाश कर जो अत्यन्त शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुए हैं वे जीव मुक्त सिद्ध हैं।

संसारी जीव चार गतियों में भ्रमण करते हैं। नर, नारक, पशु तथा देव अवस्थाओं को धारण करते हैं। ये अवस्थायें अनादि काल से कर्म संबंध होने से उन्हें प्राप्त हुई हैं। इस कर्म संबन्ध से चारों गतियों में वे सुखदुःखों को भोगते हुए भ्रमण करते हैं। पशुगति के जीव एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक होते हैं। नरक गति के जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं परन्तु अतिशय दुःखी होते हैं। पुण्य से देव गति में जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखी होते हैं। पाप पुण्य दोनों के उदय से मानवता प्राप्त होती है। संसारी जीव को जो छोटा बडा शरीर प्राप्त होगा उसके अनुसार वह अपने प्रदेश संकुचित या विस्तृत करके उसमें रहता है, शरीर नाम कर्म से उसको स्वभाव प्राप्त हुआ है। जब जीव को केवल ज्ञान प्राप्त होता है तब वह सर्व त्रैलोक्य को तथा त्रिकालवर्ती वस्तुओं को उनके गुणपर्यायों के साथ जानता है अतः जीव को ज्ञान की दृष्टी से लोकालोक व्यापक कहना योग्य है।

ज्ञान गुण है तथा जीव गुणी है। वह ज्ञान जीव से सर्वथा यदि भिन्न होता तो जीव गुणी तथा ज्ञान गुण है ऐसा जो गुणगुणि संबंध माना जाता है वह नष्ट हो जाता, अतः आत्मा से ज्ञान सर्वथा भिन्न नहीं है। जीव तथा उसका ज्ञान अन्योन्य से कालत्रय में भी नहीं होते। उनको अन्योन्य से भिन्न करना शक्य नहीं है।

जीव कर्ता है वह काललब्धि से संसार तथा मोक्ष को प्राप्त करता है। जीव भोक्ता है क्यों कि पाप और पुण्य का फल सुख दुःखों को भोगता है। तीव्र कषाय परिणत जीव पापी होता है। और कषायों को शान्त करनेवाला जीव पुण्यवान होता है। रत्नत्रय युक्त जीव उत्तमतार्थ है। वह रत्नत्रय रूप दिव्य नौका से संसार समुद्र में से उत्तीर्ण होता है।

लोकाकाश में जीव के समान पुद्गलादिक पांच पदार्थ हैं तो भी जीव की मुख्यता है। अन्य पदार्थ अचेतन होने से वे अपना स्वरूप नहीं जानते। जीव मात्र स्वपर पदार्थ का ज्ञाता है अतः वह लोक का विचार करके तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से ध्यानादिक से कर्मक्षय कर लोक के अग्रभाग में अशरीर सिद्ध परमात्मा होकर सदा विराजमान होता है। अतः इस लोकानुप्रेक्षा के चिन्तन की आवश्यकता है।

एवं लोयसहावं जो झायदि उकसमेक्कसब्भावो।
सो खविय कम्मपुंजं तस्सेव सिहामणी होदि॥

ज्याचे कषाय शान्त झाले आहेत व त्यामुळे जो शुद्धबुद्ध रूपाने परिणत झाला आहे अर्थात लोक स्वभाव जाणून ज्ञानावरणादि कर्माचा पुंज ज्याने नष्ट केला आहे तो त्रैलोक्याचा शिखामणि होतो. अर्थात लोक स्वभावाच्या ध्यानाने द्रव्यकर्म, भावकर्म आणि नोकर्म यांच्या समूहाचा नाश करितो व त्रैलोक्याच्या शिखरावर तनुवात वलयाच्या मध्ये चूडामणि प्रमाणे होतो. अर्थात सम्यक्त्वादि आठ गुणांनी युक्त सिद्ध परमेष्ठी होतो.

११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

इस जीवको बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति होना दुर्लभ, अतिशय कठिण है ऐसा चिन्तन करना-भावना करना उसे बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्मग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन आत्मगुण रत्नत्रय कहे जाते हैं। रत्न जैसा अमूल्य होता है वैसे ये सम्यग्दर्शनादिक अमूल्य कष्ट से प्राप्त होते हैं।

सम्यग्दर्शन जीवादिक सप्त तत्त्वोंपर श्रद्धा करना यह निःशंकित, निष्काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा आदिक आठ अंगोसहित प्राप्त होना दुर्लभ है। इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। और 'स्वात्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धानरूपं निश्चयसम्यग्दर्शनम्' अपने आत्मा पर वह ज्ञान दर्शन सुखरूप शुद्ध बनने की पात्रता रखना है ऐसी श्रद्धा रखना उसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

ज्ञानं द्वादशाङ्गपरिज्ञानं स्वात्मस्वरूपं वेदनं निश्चयज्ञानं च।

द्वादशांगोंका आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्गादि अंगों का ज्ञान होना तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना, आत्मस्वरूप को जानना उसे निश्चय ज्ञान कहते हैं।

'चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणं, सामायिकादि पंचभेदं पुनः स्वात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयचारित्रं च।'

असत्य, चोरी आदि पातकों से निवृत्त होना व्यवहार चारित्र है। तथा इसके सामायिक, छेदोपस्थापनादिक पांच भेद हैं। आत्मानुभव वन में लीन होना निश्चय चारित्र है। इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होना क्यों दुर्लभ है इसका विचार किया जाता है—

जीवका निगोदादि अवस्थाओं में भ्रमण

जीव का निगोद में अनन्तकाल तक वास्तव्य हुआ है। निगोदी जीव की आयु श्वास के अठारह भाग होती है इतनी आयु समाप्त होने पर बार बार उसी अवस्था को जीव ने अनन्तानन्त अतीत काल में अनुभूत की है। अर्थात अनन्तानन्त निगोदावस्थाओं का इस जीव ने अनुभव किया है।

निगोदावस्था से निकल कर पृथ्वीकायादि पंच स्थावर कार्य की अवस्थायें इस जीव ने धारण की थी और उनमें भी इसने असंख्यात वर्षों का काल बिताया है। इस पंच स्थावर कायिक के बादर स्थावर कायिक तथा सूक्ष्म स्थावर कायिक जीव ऐसे दो भेद हैं, और इन अवस्था में भी इस जीव ने असंख्यात वर्षों का काल बिताया है। इस जीव को द्वीन्द्रियादि विकलत्रय अवस्था चिंतामणि रत्नके समान दुर्लभ हुई थी। इन विकल त्रयावस्थाओं में भी इस जीव ने अनेक पूर्व कोटि वर्षोंतक भ्रमण किया है।

तदनन्तर असंज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त हुई थी इस अवस्था में अपना और परका स्वरूप इसे मालूम होता नहीं। कदाचित संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था भी प्राप्त हुई तो यदि सिंहादि क्रूर पशुओं की प्राप्त हुई तो उसे अशुभकर्म बंध होने से मरणोत्तर दीर्घ काल तक नरक दुःख सहन करने पडते हैं।

जहां लोगों का हमेशा आना जाना होता है ऐसे स्थान पर अपना रत्न गिर जाने पर उसकी प्राप्ति होना नितरां दुर्लभ है वैसे मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है। उसकी प्राप्ति होने पर भी यदि मिथ्यात्व अवस्था में अनेक पाप कार्य उससे किये गये तो फिर नरकादि दुर्गतियों में भ्रमण करना पडता है।

आर्यखण्ड में तथा उच्च कुल में भी जन्म प्राप्त होकर मूकादि अवस्था प्राप्त होने से आत्महित नहीं हो सकता। निरोगता, दीर्घायुष्य, अव्यङ्गतादि प्राप्त होकर भी शीलव्रत पालन, साधुसंगति आदिक प्राप्त होना दुर्लभ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुदैव से रत्नत्रय प्राप्त होनेपर भी कषाय की तीव्रता से वह रत्नत्रय नष्ट होकर पुनः उसकी प्राप्ति होना समुद्र में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति समान दुर्लभ है।

संयम प्राप्ति से देवपद प्राप्त हुआ तो भी वहां सम्यक्त्व प्राप्ति ही होती है संयम, तप आदिक की प्राप्ति होती ही नहीं।

अतः मनुष्य जन्म प्राप्त होना अतिशय दुर्लभ है। मनुष्य गती में रत्नत्रय पालन हो सकता है। वह मिलने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का पालन कर आत्महित करना चाहिये। तभी मानव भव पाना सफल होता है। स्वामि कार्तिकेय इस विषय में ऐसा कहते हैं—

इय सव्वदुलहदुलहं दंसण णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र अर्थात रत्नत्रय अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा समझकर इनका अत्यंत आदरपूर्वक धारण करो।

१२. धर्मानुप्रेक्षा

निर्दोष सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने धर्म का स्वरूप कहा है। असर्वज्ञ से सर्व प्राणियों का हित करनेवाले सत्य धर्म का स्वरूप कहना शक्य नहीं है। इन्द्रिय ज्ञान स्थूल होता है उससे वस्तु का सत्य स्वरूप कहना शक्य नहीं है। जिनके क्षुधादि दोष नष्ट हुए हैं, राग द्वेषादिक नष्ट हुए हैं, ज्ञान को ढकनेवाले ज्ञानावरणादिक नष्ट हुए हैं। ऐसे जिनेश्वर अनन्त ज्ञान धनी सर्वज्ञ हुए अतः उन्होंने परिग्रहोंपर आसक्त हुए गृहस्थों को तथा निष्परिग्रही मुनिओं को अलग अलग धर्म कहा है। गृहस्थों के लिये उन्होंने बारह प्रकार का धर्म कहा है और मुनियों के लिये उन्होंने दश प्रकार का धर्म कहा है।

गृहस्थधर्म के बारा भेद इस प्रकार हैं

१. पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन—जीवादिक तत्व तथा जिनेश्वर, जिनशास्त्र और निष्परिग्रही जैन साधु इनके ऊपर श्रद्धा रखना यह गृहस्थ धर्म का प्रथम भेद है। तीन मूढता, आठ प्रकार का गर्व, छह आनायतन और शंका, कांक्षादिक आठ दोष इनसे रहित सम्यग्दर्शन धारण करना, यह अविरति सम्यग्दृष्टि का पहिला गृहस्थ धर्म है। इसके अनन्तर व्रति गृहस्थों के लिये धर्म के प्रकार उन्हों ने कहे है वे इस प्रकार—

२. मद्य, मांस, मधु का दोषरहितत्याग, पंच उदुंबर फलों का त्याग—जिनमें त्रसजीव उत्पन्न होते हैं ऐसे फल सेवन का त्याग, यह दुसरा भेद, जुगार आदि सप्त व्यसनों का त्याग, तथा कंदमूल पत्रशाक भक्षण त्याग इसका दुसरे गृहस्थ धर्म के भेद में अन्तर्भाव है।

३. पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ऐसे बारा व्रतों का पालन करना यह तीसरा भेद।

४. त्रिकाल सामायिक करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. अष्टमी, चतुर्दशी चार पर्व तिथियों के दिन प्रोषधोपवास करना।

६. प्रासुक आहार लेना अर्थात सचित्जल, सचित्त फल, सचित्त धान्यादिकों का त्याग यह छट्ठा गृहस्थ धर्म है।

७. रात्रि भोजन त्याग तथा दिन में मैथुन सेवन त्याग यह सप्तम गृहस्थ धर्म है।

८. देवांगना, मनुष्य, स्त्री, पशुस्त्री तथा काष्टपाषाणादिक से निर्मित अचेतन स्त्री प्रतिमा इस प्रकार से चार प्रकार की स्त्रियों का मन वचन काय से नऊ प्रकार से त्याग करना अर्थात ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन करना यह आठवा धर्म हैं।

९. कृषिकर्म, व्यापार आदि गृहस्थयोग्य आरंभ को त्यागना यह नौवा गृहस्थ धर्म है।

१०. गृहस्थ योग्य ऐसे खेत, घर, धनधान्यादिक दश प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना यह दसवा गृहस्थ धर्म है।

११. गृहनिर्माण, विवाह करना, द्रव्योपार्जन करना आदि कार्यों में संमति प्रदान नहीं करना यह ग्यारहवा गृहीधर्म है।

१२. उद्दिष्टाहार का त्याग करना तथा उसके लिये कोई शयनासनादिक देगा तो उसका त्याग करना इस प्रकार संक्षेप से गृहस्थ धर्मों का वर्णन किया है।

इस प्रकार से गृहस्थ धर्म का आचरण करके इस धर्म के या तो शिखर ऐसे क्षुल्लक पद तथा आर्य पद जब गृहस्थ धारण करता है, तब वह मुनि के समान केशलोच करता है, पाणिपात्र में आहार लेता है, पिच्छि को धारण करता है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म का वर्णन स्वामि कार्तिकेय महाराज ने किया है।

मुनि के दस प्रकार हैं—अर्थात क्षमादि दशधर्म मुनिधर्म है।

१. उत्तम क्षमा—देव, मनुष्य और पशुओं ने घोरोपसर्ग करने पर भी मुनि अपने चित्त को क्रोध से कलुषित नहीं करते हैं। यह उनका उत्तम क्षमा धर्म है।

२. उत्तम मार्दव—जो ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं, जो उत्तम श्रुत ज्ञान के धारक हैं, जो उत्तम तपस्वी हैं तथा गर्व से दूर हैं ऐसे गर्वादिकों का जो विनय करते हैं उनका यह मार्दव धर्म प्रशंसनीय है।

३. उत्तम आर्जव धर्म—जो साधु मन में कपट धारण नहीं करते हैं, मुख से कपट भाषण नहीं बोलते हैं। अपने से उत्पन्न हुए दोष गुरू के आगे नहीं छिपाते हुए कहते हैं उनका उत्तम आर्जव धर्म है।

४. उत्तम शौचधर्म—जो साधु सन्तोष रूप जल से तीव्र लोभ रूपी मल को धो डालते हैं तथा भोजन में जिनको लम्पटता नहीं हैं वे साधु उत्तम शौच धर्म के धारक हैं।

५. उत्तम सत्य धर्म—जो साधु सदैव जिन वचन ही बोलते हैं, जैन सिद्धान्त प्रतिपादक वचन ही बोलते हैं, पूजा प्रभावना के लिये भी असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे साधु सत्यवादी हैं। सत्य भाषण में सर्व गुणों का संचय रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. उत्तम संयम धर्म—गमन करना, बैठना, कुछ वस्तु जमीन पर से लेना अथवा रखना आदि कार्य जीव रक्षण का हेतु रखकर ही मुनिजन करते हैं। तृण का पत्ता भी वे नहीं तोडते हैं। वे अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में रखते हैं। स्थावर तथा त्रस जीवों का रक्षण करते हैं।

७. उत्तम तपोधर्म—इहलोक में तथा परलोक में मुझे सुख मिले ऐसे हेतु के बिना वे तप करते हैं। रागद्वेषरहित होकर समता भाव से नाना प्रकार के तप करते हैं। माया, मिथ्यात्व, निदानवश तप नहीं करते हैं।

८. उत्तम त्याग—जो साधु रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरणों का त्याग करते हैं, मिष्ट भोजन का त्याग करते हैं, रागद्वेषवर्धक वसति का त्याग करते हैं, ऐसे साधु का यह त्याग आत्महित का हेतु होता है।

९. उत्तम आकिंचन्य धर्म—मानसन्मान की आशा छोडकर बाह्याभ्यन्तर चेतन अचेतन परिग्रहों का त्याग साधु करते हैं। यह साधु शरीरपर निःस्पृह होते हैं। निर्मम होने से उनकी कर्म निर्जरा अधिक होती है। शिष्योंपर भी निर्मम होने से आत्मानुभव का स्वाद उनको प्राप्त होता है।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य—ये जैन साधु चार प्रकार के स्त्रियों के त्यागी होते हैं। उनके रूप का अवलोकन नहीं करते हैं। कामकथादिकों के वे त्यागी होते हैं। तरुण स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से उनका मन विद्ध नहीं होने से वे ही वास्तविक शूर हैं।

वे साधु पंचमहाव्रतो के पालक होते हैं, पुण्यप्राप्ति के लिये वे उत्तमक्षमादि धर्म धारण नहीं करते हैं। क्योंकि पुण्य भी संसारवर्धक है।

वे साधु बाह्याभ्यंतर तपश्चरणों से तत्पर रहते हैं। आर्त तथा रौद्र ध्यान छोडकर धर्म ध्यान में लीन रहते हैं।

सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ गुणों को पालते हुए वे सम्यक्त्व में अतिशय दृढ रहते हैं। यतियों के समता, स्तुतिवंदनादि षट्कर्म जो कि आवश्यक हैं उनका आचरण आलस्य रहित होकर करते हैं।

इस प्रकार स्वामि कार्तिकेयाचार्य ने 'धर्मानुप्रेक्षा में' गृहस्थ धर्म तथा मुनिधर्म का वर्णन किया। अंतिम दो गाथा में उन्होंने जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह इस प्रकार है—

बारसअणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं मोक्खं ॥ ४८८ ॥
तिहुवणपहाणस्वामिं कुमारकाले वि तविय तवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं ॥ ४८९ ॥

जिनागम के अनुसार मैंने बारा भावनाओंका वर्णन किया है इसको जो पढेगा, श्रवण करेगा तथा मनन करेगा उसको शाश्वत सुख–मुक्तिसुख मिलेगा ॥ ४९० ॥ जो त्रैलोक्य के स्वामी हैं, जिन्होंने कुमार काल में भी तपश्चरण किया ऐसे वासुपूज्य, मल्लीनाथ, नेमी–पार्श्व सन्मति–महावीर इन पांच तीर्थंकरों की मैं नित्य स्तुति करता हूं। ॥ ४९१ ॥ इस प्रकार अंतिम मंगल स्तुति कर ग्रंथ समाप्त किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org